



## बौद्ध धर्म-दर्शन में उपेक्षा ब्रह्मविहार भावना: एक अनुशीलन

डॉ. ज्ञानादित्य शाक्य

सहायक प्राध्यापक

स्कूल ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज एण्ड सिविलाईजेशन

गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा

गौतम बुद्ध नगर-201312, उत्तर प्रदेश, भारत

### शोध संक्षेप

बुद्धोपदिष्ट सद्धर्म में शील को आदिकल्याणकारी, समाधि को मध्यकल्याणकारी, और प्रज्ञा को पर्यवसानकल्याणकारी माना जाता है। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने व्यक्ति को अपने जीवन में शील व भावना का पालन करते हुए श्रद्धापूर्वक दान करने का उपदेश दिया है। चित्त की निर्मलता के साथ निर्वाण रूपी परमोद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाने वाली कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। चित्त एकाग्र करके चित्त के क्लेशों का उपशमन करने के लिए, उन्होंने चालीस कर्मस्थानों का उपदेश दिया है। इन कर्मस्थानों में से ब्रह्मविहार भावना को सर्वोत्कृष्ट कर्मस्थान माना जाता है। ये चित्त की दिव्य व सर्वोत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं, जो चित्त विशुद्धि के उत्तम साधन हैं। ये परहित के साधन हैं, जिसमें आत्महित की भावना गौण है जबकि अन्य कर्मस्थान केवल आत्महित के साधन हैं।

### ब्रह्मविहार

ब्रह्मविहार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसमें ब्रह्म का अर्थ श्रेष्ठ या उत्तम पुद्गल होता है, और विहार का अर्थ निर्वाण प्राप्ति हेतु पवित्र व निष्पाप धर्ममय जीवनचर्या। अर्थात् जो आर्य पुद्गल निरन्तर ही आर्य मार्ग का अनुशीलन करके समस्त सत्त्वों का हित-कल्याण करता हुआ निर्वाणाभिमुख होकर धर्माचरणयुक्त पवित्र, निष्पाप व परिशुद्ध जीवन जीता है - ऐसे आर्य पुद्गल की जीवनचर्या को ही ब्रह्मविहार कहते हैं। आचार्य भदन्त अनुरुद्ध कहते हैं कि जिन मैत्री, करुणा आदि धर्मों द्वारा सत्पुरुष विहरण करते हैं, उन्हें विहार कहते हैं। इन चार धर्मों में से किसी एक का सत्त्वों के प्रति स्फरण करके स्थित रहना ही ब्रह्मविहार कहलाता है।<sup>1</sup> आलम्बन की असीमितता के कारण ब्रह्मविहार भावना<sup>2</sup> को अप्रमाण्या (अप्पमत्ता) भी कहते हैं।

ब्रह्मविहार भावना को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा - इन चार उपायों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि श्रेष्ठ होने से, निर्दोष होने से उनका ब्रह्मविहार होना जानना चाहिए। क्योंकि सत्त्वों के प्रति सम्यक् प्रतिपत्ति रूप होने से ये विहार श्रेष्ठ हैं एवं जैसे ब्रह्मा निर्दोष चित्त से साधना करते हैं, वैसे ही इनसे युक्त योगी ब्रह्मा के समान होकर साधना करते हैं। अतः श्रेष्ठ होने से, निर्दोष होने से ब्रह्मविहार कही जाती है।<sup>3</sup> इसे मैत्री, करुणा, मुदिता, और उपेक्षा - इन चार उपायों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, जो आपस में घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मविहार भावना के चार उपायों में क्रमबद्धता में भी स्वाभाविकता विद्यमान है। उपेक्षा-भावना, ब्रह्मविहार भावना का चतुर्थ व अन्तिम महत्वपूर्ण उपाय है। यह ओधिसोफरण, अनोधिसोफरण, दिशाओं एवं अनुदिशाओं के



आधार करुणा, एवं मुदिता भावनाओं के समान ही 132 प्रकार की होती है। मैत्री-भावना का अभ्यासी व्यक्ति दूसरे सत्त्वों का हित-कल्याण करता है। तदनन्तर दुःख से अभिभूत समस्त सत्त्वों की प्रार्थना एवं अनुनय-विनय सुनकर करुणा-भावना का अभ्यासी व्यक्ति उनके दुःखों का विनाश करता है। इसके बाद दुःखी सत्त्वों के सुखी हो जाने से व्यक्ति प्रमुदित हो जाता है, तथा बाद में सभी सत्त्वों के प्रति पक्षपातरहित होकर निरासक्त भाव (समचित्तता) को अपना ही उपेक्षा-भावना होती है। इन चारों ब्रह्मविहार भावनाओं का एक निश्चित क्रम है, जो वैज्ञानिक एवं पूर्णरूपेण प्राकृतिक है। जब कोई व्यक्ति मैत्री, करुणा, एवं मुदिता भावनाओं के अभ्यास से अपने चित्त को मृदु व कर्मण्य बना लेता है, तब वह सभी सत्त्वों के प्रति निरपेक्ष भाव व्यवहार करने लगता है - यही उपेक्षा-भावना होती है।

## उपेक्षा

उपेक्षा शब्द का हिन्दी रूपान्तर उपेक्षा होता है। यह शब्द उप और इक्खा नामक दो शब्दों से मिलकर बना है। उप शब्द उपसर्ग है, जिसका अर्थ निकट भाव या समीप भाव होता है, और इक्खा शब्द का अर्थ दर्शन या अवलोकन करना होता है। इस प्रकार से उपेक्षा शब्द का शाब्दिक अर्थ समीप से अवलोकन करना होता है। चित्त की वह अवस्था जहाँ पर सभी सत्त्वों के प्रति एक भाव या समभाव का उदय होता है, तो वह भाव ही उपेक्षा कहलाती है।

इस लोक में अनेक जाति, गुण, रंग-रूप, एवं कुल-गोत्र के लोग निवास करते हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, अमीर-गरीब, कंजूस-दानी, नीच एवं उत्तम आदि के आधार पर ऊँच-नीच का भेदभाव विद्यमान है। ये विषमताएँ विश्व के प्रत्येक समाज में विद्यमान हैं, फिर चाहे वह

हिन्दुस्तान हो या पाकिस्तान, अमेरिका हो या जापान और आस्ट्रेलिया हो या अफ्रीका। समाज में विद्यमान ऊँच-नीच, अमीर-गरीबी का भेदभाव त्यागकर सभी सत्त्वों के प्रति सब्बे पाणा सम-समका अर्थात् सभी प्राणी समान है - इस प्रकार के पवित्र व यथार्थ भाव का उत्पाद ही उपेक्षा कहलाती है। समतावादी दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति के चित्त में सत्त्व के प्रति जो समता का भाव प्रादुर्भूत होता है, वह भाव ही उपेक्षा है। इस लोक में विज्ञ लोगों की अपेक्षा अज्ञान अत्यधिक होते हैं, जो सत्य धर्म के ज्ञान के अभाव में निरन्तर अशोभनीय कर्म करते रहते हैं। अज्ञ लोग अपने बाल स्वभाव के कारण ही निरन्तर अकुशल कर्म करते रहते हैं। इसीलिए ऐसे बाल पुद्गलों के बाल स्वभाव के निवारणार्थ उनको समीप से देखना या अवलोकन करना ही उपेक्षा कहलाती है।

व्यक्ति को अपने चित्त में उपेक्षा-भावना को विकसित करने के लिये सबसे पहले अपने घर-परिवार के सदस्यों के प्रति समतापूर्ण व्यवहार करने का अभ्यास करना चाहिए। उसे अपने परिवार के सदस्यों की खुशी देखकर न तो अत्यधिक प्रमुदित या उतावला हो जाना चाहिए, और न ही उनके दुःख को देखकर दुःखी हो जाना चाहिए या न ही उनके दुःख को घटाने का प्रयास करना चाहिए, बल्कि इन सबसे रहित होकर उसे सभी के प्रति निरपेक्ष भाव रखते हुये तटस्थ रहना चाहिए, तो ऐसी भावना को ही उपेक्षा-भावना कहा जा सकता है। इस प्रकार से निरन्तर सम्यक् अभ्यास से व्यक्ति अपने चित्त में उपेक्षा-भावना का विकास कर सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति सभी के प्रति उदासीनता का व्यवहार करे या नकारात्मक धारणा बनाकर व्यवहार करे, बल्कि उसे अपने



चित्त में सभी के प्रति समतापूर्ण नीति को उपस्थित करके व्यवहार करना चाहिए। व्यक्ति को अनासक्त भाव से सभी सत्त्वों के सुख की कामना करनी चाहिए। उसे ऐसी कामना करनी चाहिए कि सभी सत्व अपने-अपने कर्मों का फल भोगें। इस प्रकार से परिवार के व्यक्तियों को आलम्बन बनाकर उपेक्षा-भावना का अभ्यास करने से उसका चित्त कुछ सीमा तक निर्मल व पवित्र हो जाता है। चूँकि उसके चित्त में परिवारजनों के प्रति अत्यधिक क्रोध नहीं होता है। इसीलिए वह कुछ सीमा तक उपेक्षा-भावना का अभ्यास आसानी से कर सकता है। फिर उसको अपने परिवारजनों के अलावा अपने मित्र, सहयोगी, एवं मध्यस्थ आदि पुद्गलों के प्रति उपेक्षा-भावना विकसित करना चाहिए। अपने मित्रों एवं सहयोगियों आदि के प्रति उपेक्षा-भावना रखने से ही उसके चित्त में विद्यमान प्रतिघ (क्रोध) एवं अत्यधिक मैत्री भाव ज्यों-ज्यों कम होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी उपेक्षा-भावना पुष्ट होती जाती है। तब उसे अपने शत्रु एवं वैरी पुद्गलों के प्रति उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। इस प्रकार से व्यक्ति का चित्त अत्यधिक पुष्ट हो जाता है, जिससे वह सभी सत्त्वों को आलम्बन बनाकर उपेक्षा-भावना कर सकता है। इस प्रकार से सभी सत्त्वों के प्रति राग और द्वेष जैसे अकुशल भावों को उत्पन्न किये बिना ही समभाव बनाये रखना या तटस्थ रहना ही उपेक्षा-भावना कहलाती है।

उपेक्षा-भावना, मैत्री, करुणा, एवं मुदिता भावनाओं से भिन्न होती है। यह मैत्री-भावना की तरह न तो 'सभी सत्व वैर रहित हों, व्यापाद रहित हों, व्याकुलता रहित हों, सुखपूर्वक जीवनयापन करें' - आदि का स्मरण करके उनके हित-सुख की कामना करता है, न ही करुणा-भावना की तरह -

'सभी दुःखरहित हों' - आदि स्मरण करके उनके दुःख का प्रहाण करने की कामना करता है, और न ही मुदिता-भावना की तरह - 'सभी सत्व अपने सत्कर्म द्वारा प्राप्त सुख-सम्पत्ति से वंचित न हों' - आदि स्मरण करके उनकी सुख-सम्पत्ति देखकर सुख का ही अनुभव करता है, बल्कि 'सबसे सत्ता कम्मस्सका' अर्थात् 'सभी सत्व अपने कर्म के धनी हैं, सब अपने-अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं' - इस प्रकार विचार करके उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखती है। यह उपेक्षित सत्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि वैर रहित हों आदि व्यापार (चिन्तन, मनस्कार) छोड़ देने से एवं मध्यस्थ भाव रखने से उपेक्षा करती है, अतः उपेक्षा है।<sup>5</sup> आचार्य धम्मपाल ने प्रिय आदि सत्त्वों के प्रति अनासक्त व तटस्थ भाव की उत्पत्ति को उपेक्षा बताया है।<sup>6</sup>

उपेक्षा, चित्त का एक ऐसा सहगामी चैतसिक है, जिसमें किसी सत्व के प्रति न तो राग होता है, और न ही द्वेष। जो व्यक्ति तटस्थ व निरपेक्ष भाव से समस्त सत्त्वों के प्रति सम्यक् व्यवहार करता है, तो उसके चित्त में विद्यमान अनासक्त भाव ही उपेक्षा-भावना कहलाती है। व्यक्ति के चित्त में अत्यधिक आसक्ति के कारण में-मेरा की भावना, अपने-पराये की भावना, एवं लोभ-लालच आदि विद्यमान होते हैं, लेकिन उपेक्षा-भावना, व्यक्ति के चित्त की वह अवस्था होती है, जहाँ पर इन अकुशल-भावनाओं का उपशमन हो जाता है। तब वह घटना को केवल घटना के तौर पर निरासक्त भाव से पक्षपातरहित होकर देखता है, तब चित्त के इसी समभाव या निरपेक्ष भाव को ही उपेक्षा-भावना कहते हैं। संसार में सभी सत्त्वों के प्रति हृदय में समताभाव रखकर भेदभाव रहित होकर सन्तुलित चित्त से उनका

अवलोकन करना ही उपेक्षा-भावना होती है। जीवों के प्रति समभाव रखना, प्रिय-अप्रिय में भेदभाव न करना ही उपेक्षा होती है। चित्त की वह स्थिति, जिसमें सत्त्वों को देखकर न सुख और न ही दुःख की अनुभूति होती है, जो अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में समानता का भाव कायम बनाये रखती है - वह उपेक्षा-भावना होती है। इस प्रकार से अनुकूल-प्रतिकूल भाव से रहित होकर समभाव में स्थित रहना ही उपेक्षा-भावना कहलाती है।

उपेक्षा-भावना का आविर्भाव वहीं पर होता है, जब व्यक्ति सत्त्वों को आलम्बन बनाकर अपने चित्त में उनके प्रति निरपेक्ष भाव रखते हुये मध्य में स्थित रहता है। व्यक्ति को समस्त सत्त्वों को आलम्बन बनाकर उनके प्रति समतापूर्ण दृष्टिकोण रखकर व्यवहार करना चाहिए। सत्त्वों के प्रति जाति, लिंग व रंग-रूप आदि के आधार पर भेदभाव रहित एवं निरपेक्ष रहकर ही उपेक्षा-भावना का आविर्भाव सम्भव हो पाता है। सभी सत्त्वों में समता का दृष्टिकोण रखना ही उपेक्षा-भावना का रस (कृत्य) होता है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि सत्त्वों में समत्वदर्शन रस है।<sup>17</sup>

उपेक्षा-भावना को यथार्थरूपेण अभिव्यक्ति के लिए चित्त में विद्यमान प्रतिघ (क्रोध, विरोध या द्वेष भाव) और अनुनय (मैत्री भाव) का पूर्णतः उपशमन करना परमावश्यक है। यदि व्यक्ति के चित्त में वैरी पुद्गल आदि को देखकर उसके प्रति चित्त में द्वेष भाव पैदा हो जाता है, तो वहाँ पर चित्त में समताभाव टिक नहीं पाता है। इसी प्रकार से किसी मित्र या अन्य प्रिय पुद्गल को देखते ही उसके विषय में चिन्तन करने से प्रेमभाव या मैत्री भाव का आविर्भाव हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उपेक्षा-भावना का अभ्यास असम्भव हो जाता है। इसीलिए उपेक्षा-भावना के

अभ्यास से पूर्व व्यक्ति को प्रतिघ और अनुनय जैसे बाधक तत्त्वों का उपशमन कर देना चाहिए। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि प्रतिघ (क्रोध, वैर) और अनुनय (मैत्री भाव) का शमन प्रत्युपस्थान है।<sup>18</sup>

बुद्धोपदिष्ट उपेक्षा-भावना में भी कर्म सिद्धान्त सन्निहित है, जिसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। उपेक्षा-भावना के अभ्यास के लिए सत्त्वों को आलम्बन बनाकर उनके कर्मों का ही अवलोकन किया जाता है। उपेक्षा-भावना करते समय सत्त्वों को प्राप्त होने वाले उनके कर्मों के विपाक का ही स्मरण किया जाता है। व्यक्ति सत्त्वों के प्रति 'सबसे सत्त्वा दुःखा मुच्यन्तु' अर्थात् 'सभी सत्व अपने दुःख से मुक्त हों' की भावना न करके 'सबसे सत्त्वा कम्मस्सका' अर्थात् 'सभी सत्व अपने-अपने कर्म के धनी हैं, और सभी सत्व केवल अपने ही किये हुये कर्म के अनुसार विपाक भोगते हैं' - इस प्रकार की भावना करता है। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने जीवन में कर्म की व्यापकता को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार व्यक्ति अपने ही कृत्यों का विपाक भोगता है। व्यक्ति जैसा बोता है, ठीक वैसा ही काटता है। व्यक्ति अपने जीवन में जैसा कर्म सम्पादित करता है, ठीक उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति करता है, जैसे - यदि व्यक्ति ने अपने खेत में नीम का बीज बोया है, तो अंकुरित होने के बाद उस बीज के पेड़ से केवल नीम के ही फल और बीज उत्पन्न होंगे, उस नीम के पेड़ पर आम का फल कभी भी नहीं आ सकता है, इसके लिये व्यक्ति चाहे कितनी ही अनुनय-विनय, प्रार्थना या पूजापाठ कर लें, लेकिन नीम के पेड़ पर आम का फल उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार से सत्व अपने ही कर्मों के फलों को जीवन भर भोगते रहते हैं। अकुशल



कर्म सदैव अकुशल व दुःखद् विपाक का उत्पाद करता है, और कुशल कर्म कुशल विपाक का। संसार में लोग अपनी अज्ञानता के कारण ही अपने किये हुये पापकर्मों के फल से बचने के लिये यज्ञ, हवन, तीर्थयात्रा, पूजापाठ, नदी स्नान एवं अन्य बाहरी कर्मकाण्ड करते रहते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इस संसार में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, जिससे कि वह अपने पापकर्मों के विपाक से बच जाये। वे कहते हैं कि न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर - संसार में कोई स्थान नहीं है, जहाँ रहकर पापकर्मों के फल से प्राणी बच सके।<sup>9</sup> उन्होंने व्यक्ति का सच्चा साथी उसका कर्म ही माना है। वे कहते हैं कि मैं अपने कर्म का फल भोगने वाला हूँ, कर्म ही मेरा दायद है, कर्म ही मेरी योनि है, कर्म ही मेरी शरण है, मैं जो अच्छा या बुरा कर्म करूँगा, उसका उत्तराधिकारी होऊँगा - प्रव्रजित को सदा मनन करना चाहिए।<sup>10</sup> समाज में विभिन्न जाति, गोत्र, वर्ण आदि वाले पुद्गल निवास करते हैं। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, धनी-निर्धन, दानी और कंजूस के रूप में ऊँच-नीच का भाव दिखायी देता है। इस प्रकार से जाति व्यवस्था और भेदभाव का विरोध करते हुये कर्म के महत्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि न कोई जन्म से ब्राह्मण होता है न अब्राह्मण। (मनुष्य में) ब्राह्मणत्व या अब्राह्मणत्व यह सब कर्म से ही आता है।<sup>11</sup> इस प्रकार के चिन्तन से व्यक्ति के चित्त से ऊँच-नीच की भावना या विषमतावादी दृष्टिकोण का नाश हो जाता है। तब उसके चित्त में सब्बे पाणा सम-समका अर्थात् सभी प्राणी समान हैं - इस प्रकार की भावना का विकास होता है, और फिर वह सभी के साथ समतापूर्ण एवं पक्षपातरहित व्यवहार करने लगता है अर्थात् सभी के प्रति

उपेक्षा भावना करने लगता है। फिर वह कभी भी किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता है, न कष्ट दे पाता है और न ही हत्या कर पाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी का हित-कल्याण नहीं कर सकता है, और न ही किसी की उन्नति में सहायक बन सकता है, तो उसे किसी का अमंगल करने या पतन के मार्ग पर ले जाने की भी कोशिश करनी चाहिए, बल्कि इन्हीं अकुशल भावनाओं को त्यागते हुए पक्षपातरहित होकर निरपेक्ष भाव को कायम रखना चाहिए। इसीलिए शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने सबके प्रति समतावादी नीति अपनाने का उपदेश दिया है। व्यक्ति को अपने समान सभी को समझकर समतापूर्ण व्यवहार करते हुए किसी सत्व को न तो मारना चाहिए, और न ही किसी को मारने की प्रेरणा देनी चाहिए। व्यक्ति को दूसरों के हित-सुख का हेतु बनना चाहिए, न कि किसी के दुःख और सन्ताप का। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से जो दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता। सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो दण्ड से नहीं मारता, वह मरकर सुख को प्राप्त होता है।

जब व्यक्ति कर्म के वास्तविक स्वरूप की चिन्तन करता है, तो उसके चित्त से विषमतावादी दृष्टिकोण का उपशमन हो जाता है। तब वह सभी सत्वों के द्वारा किये गये कृतित्व का चिन्तन करते हुये सभी के प्रति निरपेक्ष भाव रखता है। सभी सत्वों के कृतित्व को निरपेक्ष भाव से अवलोकन करना ही उपेक्षा-भावना का पदस्थान कहा गया है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि सत्वों ने कर्म स्वयं ही किये हैं। फिर वे भला किस (दूसरे व्यक्ति) की रुचि के अनुसार सुखी हो सकेंगे या दुःख से छूट सकेंगे, या प्राप्त



सम्पत्ति से वंचित न होंगे? - कर्मों के इस स्वकृतित्व का दर्शन पदस्थान हैं।<sup>12</sup>

चित्त में विद्यमान प्रतिघ एवं अनुनय जैसे दूरवर्ती शत्रु के उपशमन से ही उपेक्षा-भावना की उत्पत्ति होती है। उपेक्षा-भावना करते समय व्यक्ति के चित्त में यदि वैरी सत्व के प्रति प्रतिघ और प्रिय सत्व के प्रति अनुनय का उत्पाद होता है, तो यह भावना कभी भी सम्यक् रूपेण नहीं की जा सकती है। इसीलिए व्यक्ति को अपने चित्त में विद्यमान प्रतिघ और अनुनय जैसे मलों का क्षालन करना नितान्त आवश्यक होता है, तभी वह उपेक्षा-भावना कर सकता है। प्रतिघ और अनुनय की उत्पत्ति ही उपेक्षा-भावना के बाधक तत्व हैं, जिनकी उपस्थिति में उपेक्षा-भावना का विकास सम्भव नहीं हो पाता है। इनके उपशमन के उपरान्त ही उपेक्षा-भावना की उत्पत्ति होती है। उपेक्षा-भावना की सम्पत्ति ही प्रतिघ और अनुनय का उपशमन होती है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि प्रतिघ और अनुनय का शमन उसकी (उपेक्षा-भावना की) सम्पत्ति है।<sup>13</sup>

प्रतिघ और अनुनय जैसे दूरवर्ती शत्रुओं के समान ही कामगुणनिश्चित अज्ञानजन्य उपेक्षा रूपी निकटवर्ती शत्रु का उपशमन भी उपेक्षा-भावना के सम्यक् अभ्यास के लिये नितान्त आवश्यक है। किसी सत्व को आलम्बन बनाकर उसके प्रति उदासीनता का भाव रखना ही उपेक्षा-भावना नहीं होती है। उपेक्षा करना मात्र उपेक्षा ब्रह्मविहार भावना नहीं कही जा सकती है। सभी के प्रति केवल नकारात्मक दृष्टिकोण रखना मात्र ही उपेक्षा ब्रह्मविहार भावना नहीं होती है। राग और द्वेष का ज्ञान (संवेदना) न होने के कारण सत्वों के प्रति उपेक्षा करने वाली एक अज्ञान उपेक्षा भी होती है - यह मोह है।

कामगुणनिश्चित अज्ञानजन्य उपेक्षा के गुण दोषों का यथार्थतः विचार न करने से यह भावना भी उपेक्षा ब्रह्मविहार भावना के समान ही लगती है जो कि इस भावना का एक निकटवर्ती शत्रु है। व्यक्ति किसी सत्व के प्रति राग या द्वेष की भावना रखते हुये उपेक्षा-भावना का अभ्यास करे तो कदापि सम्भव नहीं है। उपेक्षा-भावना का उत्पाद तो राग, द्वेष और मोह-रहित चित्त में ही होता है। उपेक्षा-भावना का शुद्ध रूप से अभ्यास अर्हत् जन ही कर पाते हैं, तथा यह पृथग्जन या शैक्ष्य पुद्गल के चित्त से परे होती है। इस प्रकार से कामगुणनिश्चित उपेक्षा की उत्पत्ति होने से चित्त में यथार्थ उपेक्षा-भावना का विनाश हो जाता है, या यह भावना उस चित्त में कभी भी उत्पन्न नहीं होती है। यदि चित्त में उपेक्षा-भावना की उत्पत्ति करके उसे विकसित करना है, तो चित्त में विद्यमान कामगुणनिश्चित उपेक्षा-भावना का उपशमन नितान्त आवश्यक होता है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि कामगुणनिश्चित (गेहाश्रित) अज्ञान (जन्य) उपेक्षा की उत्पत्ति विपत्ति है।<sup>14</sup>

व्यक्ति को मैत्री-भावना की तरह ही उचित एवं वातावरण में उपेक्षा-भावना का अभ्यास करना चाहिए। उपेक्षा-भावना में आत्महित के साथ-साथ परहित का भी तत्व समाहित है। व्यक्ति को पद्मासन लगाकर या साधारण पालथी मारकर जिस तरह सुखपूर्वक बैठ सके वैसे बैठना चाहिए, और शरीर व गर्दन को बिल्कुल सीधा रखना चाहिए। तब व्यक्ति को समस्त सत्वों के प्रति उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। व्यक्ति को सबसे पहले मध्यस्थ पुद्गल को आलम्बन बनाकर उसके प्रति 'सबसे सत्ता कम्मस्सका' अर्थात् 'सभी पुद्गल अपने-अपने कर्म के धनी हैं, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं' - यों विचार करते





हुये उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। उपेक्षा-भावना करते समय व्यक्ति को यही विचार करना चाहिए कि प्रत्येक सत्व अपने कर्म के अनुसार ही उसके विपाक को सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक भोगे। यह भावना करते समय व्यक्ति को सभी सत्वों के प्रति केवल उपेक्षित या नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए - इसे उपेक्षा-भावना नहीं कहा जा सकता है, बल्कि भावना करते समय व्यक्ति सुखी या दुःखी सत्वों के प्रति अनासक्त भाव या तटस्थ भाव रखता है। ऐसा व्यक्ति जिसका चित्त मैत्री, करुणा एवं मुदिता के अभ्यास में पूर्णरूपेण रमा हुआ है या इनका अभ्यस्त है - वही व्यक्ति वास्तविकता में उपेक्षा-भावना कर सकता है। उपेक्षा-भावना के अभ्यास के लिए चित्त से राग, द्वेष, मोह एवं लोभ जैसे अकुशल चैतसिकों का पूर्ण उपशमन नितान्त आवश्यक होता है। यह भावना यथार्थरूपेण क्रियाचित्तों में ही उत्पन्न होती है, अकुशलचित्तों में नहीं। उपेक्षा-भावना करने वाला व्यक्ति किसी सत्व के प्रति राग या द्वेष करे और इसके साथ ही उपेक्षा-भावना भी करे - यह कभी सम्भव नहीं हो सकता है। जिस व्यक्ति के चित्त में न तो किसी के प्रति प्रेम और न ही वैर भाव, न तो ईर्ष्या है, न घृणा है, न ही रति है, न तो लोभ है और न द्वेष है अर्थात् जिसका चित्त पूर्णरूपेण निर्मल एवं परिशुद्ध है - वही व्यक्ति परिशुद्ध उपेक्षा-भावना कर सकता है।

इस प्रकार से मध्यस्थ व्यक्ति के प्रति उपेक्षा-भावना पुष्ट हो जाने के बाद व्यक्ति को प्रिय व्यक्ति को आलम्बन बनाकर उसके प्रति उपेक्षा-भावना का अभ्यास करना चाहिए। प्रिय व्यक्ति के प्रति उपेक्षा-भावना करने के लिये व्यक्ति को चित्त से अनुनय (मैत्रीवत् प्रेम) का पूर्णतः उपशमन कर देना चाहिए, तभी वह सम्यक् रूपेण

प्रिय व्यक्ति के प्रति उपेक्षा-भावना कर सकता है। इसके बाद घनिष्ठ मित्र के प्रति उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। इस प्रकार से व्यक्ति का चित्त धीरे-धीरे उपेक्षा-भावना में पुष्ट हो जाता है। इसके बाद उसे किसी वैरी सत्व को उपेक्षा-भावना का आलम्बन बनाना चाहिए। वैरी व्यक्ति के प्रति उपेक्षा-भावना करने के लिये चित्त में विद्यमान प्रतिघ जैसे दूरवर्ती शत्रु का उपशमन करना चाहिए। इस प्रकार से मध्यस्थ व्यक्ति, प्रिय व्यक्ति, घनिष्ठ मित्र और वैरी व्यक्ति के प्रति उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर लेने के बाद व्यक्ति को अपने आपको आलम्बन बनाकर स्वयं के प्रति उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। उपेक्षा-भावना को सम्यक् रूपेण करने के लिये व्यक्ति के चित्त में उपेक्षा वेदना की उपस्थिति परमावश्यक मानी जाती है। व्यक्ति को उपेक्षा-भावना में निरन्तर वृद्धि करने के लिए सतत् प्रयासरत रहना चाहिए, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि कोई कुशल कृषक कृषि योग्य भूमि की सीमा बाँधकर जोतता है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह सर्वप्रथम एक आवास की सीमा बाँधकर उसमें रहने वाले सत्वों के प्रति सब्बे सत्ता कम्मस्सका<sup>15</sup> की स्मृति के साथ उपेक्षा-भावना की अभ्यास करे। इस प्रकार का अभ्यास करते समय जब पुद्गल का चित्त मृदु और कर्मण्य हो जाय, तब दो आवासों की सीमा बाँधनी चाहिए, फिर क्रमशः तीन, चार, पाँच, गली, गाँव, जनपद, राज्य, देश और विश्व के सभी सत्वों के प्रति उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। इस प्रकार से हमारे चित्त में उपेक्षा-भावना पुष्ट होती है और बलवती होती है। इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास ही व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उपेक्षा-भावना करते-करते आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाली परिशुद्ध



उपेक्षा-भावना करने लगता है। इसके बाद व्यक्ति को मैत्री-भावना की तरह ही उपेक्षा-भावना के क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए।

उपेक्षा-भावना का सम्यक् अभ्यास मानव जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसका सही लाभ तो केवल आध्यात्मिक विकास करके निर्वाण प्राप्ति के लिए होता है, लेकिन इसके अलावा लौकिक जीवन में सामान्य जनसमुदाय के लिये यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। उपेक्षा-भावना का निरन्तर अभ्यास सामान्य रूप से सभी के लिये सुख-शान्ति की वातावरण उत्पन्न करती है। इसका अभ्यासी व्यक्ति न ही दूसरों का हित-कल्याण करता है, और न ही कोई रुचि प्रदर्शित करता है, केवल इसी कारण से उपेक्षा-भावना को अकुशल धर्म नहीं कहा जा सकता है। मैत्री व करुणा भावना करने वाला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हित-कल्याण के लिए प्रयासरत् रहता है। लेकिन उपेक्षा-भावना करने वाला व्यक्ति अपने आपको पूर्णतः तटस्थ रखता है। वास्तविकता यह है कि मानव जीवन में पक्षपात रहित होना अत्यन्त ही उत्तम व लाभकारी होता है। जैसे - एक व्यक्ति अपराध करने के कारण दोषी ठहराया गया है। मैत्री व करुणा भावना करने वाला व्यक्ति उस अभियुक्त के बचाव के लिये रुचिपूर्वक प्रयासरत् रहता है, ताकि वह शारीरिक या आर्थिक दण्ड से बच सके। लेकिन कोर्ट उस अभियुक्त के अपराध की गम्भीरता को देखते हुए आजीवन कारावास या मृत्युदण्ड की सजा सुना देता है, जिसके कारण मैत्री व करुणा भावना करने वाले व्यक्ति को स्वाभाविक रूप से मानसिक और शारीरिक कष्ट होता है, और दुःख को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में केवल उपेक्षा-भावना करने वाला पुद्गल ही सुखद् या दुःखद् वेदना से मुक्त रहता

है। व्यक्ति जानता है कि कर्म करने वाला पुद्गल ही अपने कुशल या अकुशल कर्म के विपाक का भागीदार होता है। इस प्रकार की भावना रखने वाला व्यक्ति प्रायः ऐसे कष्टों से दूर ही रहता है, और उसके कोई भी शत्रु नहीं होते हैं, और न ही नये शत्रु बनते हैं। इसी प्रकार से वर्तमान समय में कोई व्यक्ति चाहे वह अधिकारी हो, नेता हो, धार्मिक आचार्य, अध्यापक हो, न्यायाधीश हो या पुलिस हो अपने कार्य के सम्बन्ध में निरपेक्ष भाव रखता है, तो वह सच्चे अर्थों में उस पद और सम्मान का पात्र होता है, लेकिन यदि वह सभी के प्रति तटस्थ भाव से रहित होकर भेदभाव पूर्ण व्यवहार करता है। वह अपने-पराये की भावना के कारण अपनों के साथ मृदुता एवं दयापूर्ण ढंग से पेश आता है और पराये लोगों के साथ कठोरतापूर्ण ढंग से पेश आता है - इन्हीं गतिविधियों के कारण उस व्यक्ति कार्यकुशलता एवं योग्यता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है और ऐसा व्यक्ति कभी भी उच्च आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। इस प्रकार से उपेक्षा-भावना का अभ्यास सामान्य जन समुदाय के दैनिक जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जो जीवन में सुख-शान्ति और विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

उपेक्षा-भावना का आध्यात्मिक जगत में एक महत्वपूर्ण स्थान है। जब कोई भिक्षु पिण्डपात हेतु किसी ग्राम में प्रवेश करता है। यदि वह उस समय अपने चित्त में यूँ विचार करते हुए जाये कि अमुक उपासक श्रद्धावान्, धनवान्, सुन्दर और धनी है, अमुक उपासक दरिद्र, कुरूप और कंजूस, अमुक उपासक राजा या किसान है, अमुक उपासक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है, अमुक उपासक अत्यधिक सेवा-सत्कार करने वाला है और अमुक उपासिका अत्यधिक स्वादिष्ट भोज्य





पदार्थ दान देती है - तो वह भिक्षु कभी सम्यक् रूपेण विहार नहीं कर सकता है, तो ऐसे व्यक्ति के लिए उपेक्षा-भावना ब्रह्मविहार का अभ्यास असम्भव होता है। ऐसे विचारों के वशीभूत व्यक्ति कभी भी अपने चित्त में उपेक्षा-भावना को विकसित नहीं कर सकता है। इसलिए उसे भेदभावपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण विचारों से रहित होकर समतावादी दृष्टिकोण से विचरण करना चाहिए। इसीलिए शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को किसी ग्राम में बिना घरों को छोड़े एक तरफ से भिक्षाटन करने का उपदेश दिया, ताकि भिक्षु सबके साथ समानता का व्यवहार कर सकें। इस प्रकार दैनिक जीवन में पुनरावृत्ति करने से हमारे चित्त में वैसे ही संस्कार निर्मित होते हैं, और उत्तरोत्तर क्रमिक विकास करते हुए भिक्षु चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करता है। उपेक्षा-भावना की पुनरावृत्ति से ही सम्यक् समाधि पुष्ट होती है, और जीवन में परमोद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति में हितकारी व फलदायी सिद्ध होती है। मैत्री, करुणा, और मुदिता ब्रह्मविहार भावना के सतत् सम्यक् अभ्यास से आर्य पुद्गल को तृतीय ध्यान की उपलब्धि हो जाती है। मैत्री, करुणा, और मुदिता ब्रह्मविहार भावनाओं का फल ही उपेक्षा-भावना है। जैसे - खम्भों को गाड़े बिना, बाँस-बल्ली से ढाँचा बनाये बिना जिस पर छत टिकती है, ऐसी ढालुई दीवाल आकाश में नहीं बनायी जा सकती है। ठीक वैसे ही मैत्री आदि तीनों ब्रह्मविहारों के अभ्यास से प्राप्त तृतीय ध्यान के बिना चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति असम्भव होती है। इसीलिए उपेक्षा-भावना को आकि'चान्यायतन का आधार कहा जाता है। उपेक्षा-भावना कुशलचित्त की एकाग्रता के लिये एक महत्वपूर्ण आलम्बन है, जिससे सम्यक् समाधि की प्राप्ति को गति मिलती है, और इसके

साथ-साथ अनेक कुशल धर्मों की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध होती है, जो जीवन के परम-सुख निर्वाण प्राप्ति में अहम् भूमिका निभाते हैं।

## निष्कर्ष

ब्रह्मविहार-भावना के चारों अंग एक-दूसरे के पूरक व सहायक हैं। जहाँ पर मैत्री होती है, वहीं करुणा उत्पन्न होती है, जहाँ पर करुणा होती है, वहीं मुदिता का उदय होता है, और जहाँ पर यह तीनों विद्यमान रहती हैं, वहीं पर उपेक्षा-भावना का उदय होता है। इसके उदित होने से ही राग, द्वेष, मोह, लोभ, ईर्ष्या, कलह, और अभिमान जैसे अकुशल धर्मों का नाश हो जाता है। इस प्रकार से सभी विवादमूलक अकुशल धर्मों का उपशमन होता है, जिसके फलस्वरूप लोक में सुख-शान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है। बुद्धोपदिष्ट उपेक्षा-भावना की स्मृति रखते हुए, जो व्यक्ति लौकिक जीवन जीता है, और आठ लौकिक धर्मों (लाभ-हानि, सुख-दुख, निन्दा-प्रशंसा और यश-अपयश) के विषय में तटस्थ रहता है, उनका कभी भी अमंगल नहीं होता है, अपितु सदा ही मंगल होता है। उपेक्षा-भावना का अभ्यासी व्यक्ति जिसका चित्त लोक धर्म से सम्पर्क होने पर भी कुछ भी विचलित नहीं होता, शोकरहित निर्मल व आनन्दमय ही रहता है। इस प्रकार से उपेक्षा-भावना ब्रह्मविहार मानव जीवन के लौकिक व आध्यात्मिक जगत् में समान रूप से फलदायी होती है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अभिधम्मत्थसंगहो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) भदन्त रेवत-धम्म एवं रामशंकर त्रिपाठी, वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1991, पृ.884
2. विस्तृत अध्ययन हेतु मेरे द्वारा विरचित बौद्ध धर्म-दर्शन में ब्रह्मविहार भावना नामक ग्रन्थ, जो रिलायबल



प्रकाशक रिलायबल पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद (गुजरात) के द्वारा सन् 2013 में प्रकाशित की गयी है, को देखें।

3. विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.187

4. ज्ञानादित्य शाक्य, बौद्ध धर्म-दर्शन में ब्रह्मविहार भावना, अहमदाबाद: रिलायबल पब्लिशिंग हाऊस, 2013, पृ.99

5. अवेरा होन्तू ति आदि ब्यापारप्पहानेन मज्झत्तभावूपगमनेन च उपेक्खती ति उपेक्खा। विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.181

6. पियादीसु पक्खपातुपच्छेदनमुखेन उदासिनभावसंखाता उपपत्तितो इक्खा उपेक्खा। परमत्थम जूसानामविसुद्धिमग्गमहाटीका (विसुद्धिमग्ग-अड्कथा) (सम्पादक) भदन्त रेवतधम्म, वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1969. पृ.677

7. सत्तेसु समभावदस्सनरसा। विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.182

8. पटिघानुनयवूपसमपच्चुपड्डाना। विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.182

9. धम्मपद (अनुवादक) राहुल सांकृत्यायन, लखनऊ: बुद्ध विहार, रिसालदार पार्क, 1986, पृ.59

10. कम्मस्सकोम्हि कम्मदायादो कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपटिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामीति पब्बजितेन अभिण्हं पच्चवेक्खितब्बं। अंगुत्तरनिकायपालि (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 2002, पृ.203

11. मज्झिमनिकायपालि (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1999, पृ.990

12. विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.182

13. विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.182

14. विसुद्धिमग्गो दुतियो भागो (अनुवादक एवं सम्पादक) स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध-भारती, 1998, पृ.182

15. हरिशंकर शुक्ल, पालि निबन्धावलि, वाराणसी: तारा बुक एजेन्सी, 1993, पृ.28